प्रश्न : 1) आपातकाल के समय भारत की राजनीतिक अवस्था की आलोचनात्मक समीक्षा करें।

या

किन परिस्थितियों में आपातकाल की घोषणा की जा सकती है ? 1970 के दशक में भारत की परिस्थिति के विशेष सन्दर्भ में आकलन करें।

1975 में भारत ने अपनी आजादी के बाद के सबसे बड़े राजनीतिक संकट का अनुभव उस समय किया, जब 26 जून को आंतरिक आपातकाल की घोषणा कर दी गई। क्या कोई और विकल्प नहीं था, जैसा कि इंदिरा गांधी बता रही थीं या फिर यह उनकी बढ़ती हुई निरंकुश प्रवृत्तियों की चरम अभिव्यक्ति थी जैसा कि विरोधी आरोप लगा रहे थे? या दोनों ही पक्ष इस घोल मट्ठे में शामिल थे? दरअसल यह मुद्दा बहुत ही जटिल है।

आपातकाल-पूर्व का संकट

1973 की शुरुआत से ही इंदिरा गांधी की लोकप्रियता घटने लगी थी। जनता की आकांक्षाए अधूरी थीं। ग्रामीण या शहरी गरीबी एवं आर्थिक विषमताओं के मोर्चे पर शायद ही कुछ किया गया था और ग्रामीण क्षेत्रों में वर्गीय और जातीय शोषणों में कोई कमी नहीं आई थी।

असंतोष उभरने का तात्कालिक कारण आर्थिक परिस्थितियों में स्पष्ट गिरावट था। मंदी, बढ़ती बेरोजगारी, आकाश छूती महंगाई और खाद्य पदार्थों की कमी आदि सब कुछ ने मिलजुल कर एक गंभीर संकट उपस्थित कर दिया था। 1971 के दौरान बंगलादेश से आए एक करोड़ शरणार्थियों को ठहराने और खिलाने के बोझ ने अन्न भंडार खाली कर दिया। इसके साथ ही बंगला देश युद्ध के खर्च ने मिलकर विशाल बजट घाटा उपस्थित किया। युद्ध ने विदेशी मुद्रा भंडार को भी खाली कर दिया। 1972 और 1973 के दोनों वर्षों में लगातार मानसून भी असफल रहा जिससे देश के अधिकतर हिस्सों में भयंकर सूखा पड़ा और खाद्यान्नों की भीषण कमी हो गई और इसके परिणामस्वरूप उनकी कीमतों में आग लग गई।

Scanned with CamScanner

सूखे के कारण विद्युत उत्पादन भी घटने लगा और कृषि उत्पादन में कमी आने लगी और औद्योगिक वस्तुओं की मांग कम हो गई। नतीजा हुआ-औद्योगिक मंदी और बेरोजगारी में वृद्धि। 1973 में कुख्यात तेल संकट भी पैदा हुआ जब विश्व बाजार में कच्चे तेल की कीमत चार गुना बढ़ गई। परिणामस्वरूप खाद एवं पेट्रोलियम उत्पादों की कीमत में भारी बढ़ोत्तरी हुई। इससे विदेशी मुद्रा भंडार और भी खाली हो गया, बजट घाटा और भी अधिक बढ़ गया तथा आर्थिक मंदी गहरी हो गई। इस सबके साथ कीमतें लगातार बढ़ती चली गईं और 1972-73 के दौरान ही सिर्फ कीमतों में 22 प्रतिशत की वृद्धि हुई। गरीबों और मध्यवर्ग, दोनों को प्रभावित करने वाली इस मूल्यवृद्धि के दौर के साथ-साथ उपभोग की आवश्यक वस्तुओं का अभाव हो गया और देश के कई हिस्सों में अनाज के लिए दंगे होने लगे।

आर्थिक मंदी, बेरोजगारी, महंगाई और जरूरी सामानों की कमी की वजह से बड़े पैमाने पर औद्यागिक अशांति उत्पन्न हो गई और 1972 और 1973 में देश के विभिन्न भागों में हड़तालों की लहर चलने लगी। इसकी चरम परिणति मई 1974 के अखिल भारतीय रेलवे हड़ताल के रूप में हुई। रेलवे की हड़ताल बाईस दिनों तक चलती रही परंतु आखिर में तोड़ दी गई। मजदूरों के बीच श्रीमती गांधी की लोकप्रियता और भी कम हो गई।

कानून और व्यवस्था की हालत लगातार खासकर 1974-75 के दौरान और भी खराब हो गई। हड़तालें, छात्र-प्रदर्शन, और जुलूस अकसर हिंसक हो उठते थे। कई कॉलेज और विश्वविद्यालय लंबे समय के लिए बंद कर दिए गए। मई 1973 में उत्तर प्रदेश में पी.ए.सी. (पुलिस) ने बगावत कर दी और जब सेना को नियंत्रण पाने के लिए भेजा गया तो उनके साथ हुई मुठभेड़ में पैंतीस सिपाही और सैनिक मारे गए।

गिरती हुई आर्थिक, राजनीतिक तथा कानून-व्यवस्था की स्थिति से निबटने के लिए दृढ़ और स्पष्ट नेतृत्व की आवश्यकता थी, जैसा कि बंगला देश संकट और विदेशी मामलों को सुलझाने में पहले किया गया था। परंतु ऐसा होता दिख नहीं रहा था। कई अन्य पहलुओं के सक्रिय हो जाने के कारण राजनीतिक स्थिति बदतर होती जा रही थी। एक संगठन की हैसियत से कांग्रेस का पतन होता जा रहा था और वह प्रादेशिक एवं स्थानीय स्तरों पर इस राजनीतिक संकट से निबटने में अक्षम साबित हो चुकी थी। इस स्थिति से उबरने के लिए सरकार द्वारा किए जाने वाले किसी भी प्रयास में भ्रष्टाचार एक बहुत बड़ी बाधा थी जो जीवन में फैल चुका था और आमतौर पर लोगों को यह विश्वास हो चुका था कि सत्ताधारी ऊंचे-ऊंचे नेता एवं प्रशासन इस भ्रष्टाचार में शामिल हैं। भ्रष्टाचार के झोंके ने इंदिरा गांधी का दामन भी उस समय छू लिया जब उनके अनुभवहीन छोटे बेटे, संजय गांधी को 50,000 मारुति कार प्रतिवर्ष बनाने का लाइसेंस दे दिया गया।

तीन महत्वपूर्ण सामाजिक तबकों का कांग्रेस से बिलगाव बढ़ना एक महत्वपूर्ण नई परिघटना थी। जहां गरीब अभी भी अनमने ढंग से ही सही इसका समर्थन कर रहे थे, वहीं मध्यवर्ग बढ़ती महंगाई और भ्रष्टाचार के कारण, धनी किसान भूमि सुधार की धमकी के कारण और पूंजीपति समाजवाद की चर्चा, बैंक और कोयला खानों का राष्ट्रीकरण और इजारेदार विरोधी कदमों के कारण कांग्रेस और इंदिरा गांधी से दूर हट रहे थे। विपक्षी दलों

Scanned with CamScanner

की व्यग्रता ने भी राजनीतिक व्यवस्था के ह्रास में अपना योगदान दिया। विचाराधार एवं कार्यक्रमों में व्यापक मतभेद होने के बावजूद इन पार्टियों को एकजुट करने वाली कोई चीज यदि थी तो बस कांग्रेस विरोधवाद। न तो अलग-अलग, न ही सब मिलकर इस स्थिति में थे कि वे कांग्रेस को राजनीतिक चुनौती दे सकें। वे पूरी तरह पराजित किए जा चुके थे और अभी हाल ही में हुए 1971 के लोकसभा चुनावों और 1972 के विधानसभा चुनावों में उनके कद छोटे किए जा चुके थे। अगले चुनावों में अपनी लोकप्रियता की परीक्षा करने का उनका धैर्य खो चुका था और बिना किसी परिणाम की परवाह किए वे अंधे होकर किसी भी समूह और आंदोलन को अपना समर्थन देने के लिए तैयार थे जो केंद्र अथवा राज्यों में सरकार का विरोध कर सके।

गुजरात और बिहार में अशांति

इन विभिन्न प्रकार के आर्थिक और राजनीतिक संकटों को दो जन आंदोलनों ने एक राजनीतिक व्यवस्था का स्वरूप प्रदान किया। गुजरात और बिहार में गुटबंदी की शिकार कांग्रेस सरकारों के खिलाफ ये आंदोलन चले और बिहार के आंदोलन का नेतृत्व जयप्रकाश नारायण ने किया।

जनवरी 1974 में गुजरात में एक भारी उथल-पुथल उस समय हुई जब अनाजों, रसोई तेल एवं अन्य आवश्यक पदार्थों की कीमतों में हुई वृद्धि से पैदा हुआ जन आक्रोश राज्य के शहरों और महानगरों में छात्र आंदोलन के रूप में फूट पड़ा। विपक्षी दलों ने शीघ्र ही इसमें हिस्सा लेना शुरू कर दिया। दस सप्ताह से अधिक समय तक राज्य में करीब-करीब अराजकता छाई रही और हड़ताल, लूटपाट, दंगे और आगजनी की घटनाएं घटती रहीं। विधानसभा सदस्यों से त्यागपत्र दिलवाने के लिए भी कोशिश की गई। पुलिस ने इसका जवाब अत्यधिक बल-प्रयोग, अंधाधुंध गिरफ्तारियों और अकसर किए जाने वाले लाठीचार्ज और गोलीबारी से दिया। फरवरी के महीने तक जाते-जाते केंद्र सरकार को राज्य सरकार पर त्यागपत्र देने के लिए दबाव डालने पर मजबूर होना पड़ा। विधानसभा निलंबित कर दी गई और राज्य में राष्ट्रपति शासन लगा दिया गया। गुजरात के नाटक का अंतिम अंक मार्च 1975 में खेला गया जब लगातार चलने वाले आंदोलनों और मोरारजी देसाई के आमरण अनशन को देखते हुए इंदिरा गांधी ने विधानसभा भंग कर दी और जून में नए चुनाव कराने की घोषणा कर दी गई।

गुजरात आंदोलन के नक्शे कदमों पर चलते हुए और उसकी सफलता से प्रेरणा लेकर मार्च 1974 में बिहार के छात्रों ने भी इसी प्रकार का आंदोलन शुरू कर दिया। छात्रों ने अपनी शुरुआत 18 मार्च को विधानसभा के घेराव से की और अतिसक्रिय पुलिस के साथ बार-बार मुठभेड़ होने लगी। परिणामस्वरूप एक ही सप्ताह के अंदर 27 लोग मारे गए। इसके अलावा गुजरात की तरह ही यहां भी शीघ्र ही विपक्षी दल छात्र आंदोलनकारियों के साथ शामिल हो गए।

Scanned with CamScanner

हालाँकि बिहार आंदोलन में दो नई विशेषताएं भी मौजूद थीं। जयप्रकाश नारायण, जो लोकप्रिय रूप से जे.पी. के नाम से जाने जाते थे, अपने राजनीतिक संन्यास को त्यागकर इस आंदोलन का नेतृत्व करने लगे। उन्होंने 'संपूर्ण क्रांति' का नारा दिया जो 'उस पूरी व्यवस्था के विरुद्ध संघर्ष था जिसने हर व्यक्ति को भ्रष्ट बनने के लिए मजबूर कर दिया था।'[1] कांग्रेस सरकार के त्यागपत्र और विधानसभा भंग करने की मांग करते हुए उन्होंने छात्रों और लोगों से कहा कि वे मौजूदा विधायकों पर त्यागपत्र देने के लिए दबाव डालें, सरकार को ठप कर दें, सरकारी कार्यालयों और विधानसभा का घेराव करें, पूरे राज्य में समानांतर जन सरकार गठित करें और कर देना बंद कर दें। दूसरी विशेषता यह थी कि इंदिरा गांधी विधान सभा भंग करने की मांग मानने को बिलकुल तैयार नहीं थीं क्योंकि उन्हें लगता था कि कहीं ऐसा न हो कि यह बात अन्य राज्यों तक फैल जाए और अंततः बात केंद्र सरकार तक पहुंच जाए।

जयप्रकाश नारायण ने भी बिहार से निकलकर संपूर्ण देश के स्तर पर फैले हुए भ्रष्टाचार और कांग्रेस एवं इंदिरा गांधी के निष्कासन को लेकर आंदोलन संगठित करने का निर्णय लिया। इंदिरा गांधी को लोकतंत्र के दुश्मन और भ्रष्टाचार के स्रोत के रूप में अब देखा जा रहा था।

जे.पी. अब नियमित रूप से पूरे देश का दौरा करने लगे और दिल्ली एवं उत्तर भारत के अन्य हिस्सों में जहां जनसंघ या समाजवादियों के गढ़ थे, वहां भारी भीड़ इकट्ठी करने लगे। जे.पी. आंदोलन ने खासतौर पर छात्रों, मध्यवर्ग, व्यापारियों और बुद्धिजीवियों के एक हिस्से का व्यापक समर्थन हासिल किया। इसे सभी गैर-वामपंथी पार्टियों का पूरा समर्थन प्राप्त हुआ और 1971 के चुनावों में मुंह की खाने के बाद उन्होंने जेपी के रूप में एक ऐसे जन नेता की छवि देखी जो उन्हें कांग्रेस के विकल्प के रूप में मान्यता दिलवाने योग्य बना सकता था। बदले में जेपी यह समझते थे कि बिना इन पार्टियों के सांगठनिक ढांचे के वे न तो सड़क पर और न ही चुनावों में इंदिरा गांधी का मुकाबला कर सकते हैं।

लेकिन जेपी आंदोलन की सरगर्मी बहुत लंबे समय तक बनी नहीं रह सकी और यह 1974 के अंत तक पतन की ओर बढ़ने लगी। उनके ज्यादातर छात्र अनुयायी अपनी कक्षाओं में वापस जा चुके थे। इसके अतिरिक्त इस आंदोलन ने गुजरात और बिहार में भी शहरी और ग्रामीण गरीबों को अपनी तरफ आकर्षित करने में सफलता प्राप्त नहीं की। जेपी आंदोलन के गैर-संसदीय रुझानों की भर्त्सना करते हुए इंदिरा गांधी ने जेपी को बिहार एवं संपूर्ण देश में अपनी लोकप्रियता की परीक्षा अगामी चुनावों में कर लेने की चुनौती दी जो फरवरी-मार्च 1976 में होने वाले थे। जेपी ने चुनौती स्वीकार की और उन्हें समर्थन देने वाली पार्टियों ने इस उद्देश्य से राष्ट्रीय सहयोग समिति के गठन का निर्णय लिया।

इस समय ऐसा लग रहा था कि इस मुद्दे का फैसला लोकतांत्रिक चुनावी तरीके से हो जाएगा कि कौन दरअसल भारतीय जनता का प्रतिनिधित्व कर रहा है। हालांकि ऐसा नहीं हुआ। 12 जून 1975 को इलाहाबाद उच्च न्यायालय के न्यायमूर्ति सिनहा द्वारा दिए गए

Scanned with CamScanner

एक फैसले ने भारतीय राजनीति को अचानक ही एक नए मोड़ पर खड़ा कर दिया। राजनारायण द्वारा दायर की गई एक चुनाव याचिका पर अपना फैसला देते हुए अदालत ने श्रीमती गांधी को भ्रष्ट चुनाव आचरण में लिप्त होने का दोषी पाया और उनके चुनाव को अमान्य करार दिया। इस फैसले का अर्थ यह भी था कि अगले छह वर्षों तक श्रीमती गांधी न तो चुनाव में खड़ी हो सकती थीं और न ही किसी पद पर आसीन हो सकती थीं। इसलिए उनका प्रधानमंत्री बने रहना संभव नहीं रह गया।

उस समय के ज्यादातर पर्यवेक्षकों ने यह गौर किया कि न्यायमूर्ति सिनहा ने उनके खिलाफ ज्यादा गंभीर आरोपों को खारिज कर दिया जबकि चुनाव कानूनों के विरुद्ध अपराधों के लिए अतिसाधारण यहां तक कि ओछे मुद्दों के आधार पर उन्हें दोषी साबित किया। इंदिरा गांधी ने त्यागपत्र देने से इनकार कर दिया और सर्वोच्च न्यायालय में अपील दायर की। सर्वोच्च न्यायालय उनकी अपील पर 14 जुलाई को सुनवाई करने वाली थी। इसी बीच सर्वोच्च न्यायालय के अवकाशकालीन न्यायमूर्ति वी.आर. कृष्ण अय्यर ने 24 जून को यह फैसला देते हुए एक भ्रांति पैदा कर दी कि श्रीमती गांधी की अपील पर सर्वोच्च न्यायालय की संपूर्ण पीठ का फैसला आने तक वह अपने पद पर बनी रह सकती हैं और संसद में बोल सकती हैं, परंतु वह अपना मत वहां नहीं डाल सकतीं।

इसी बीच श्रीमती गांधी को एक और राजनीतिक धक्का लगा। 13 जून को गुजरात विधानसभा चुनावों के नतीजे आए। 182 सदस्यों के सदन में विपक्षी जनता मोर्चे को 87 स्थान प्राप्त हुए जबकि कांग्रेस को मात्र 75 स्थान मिले। आश्चर्यजनक यह है कि जनता मोर्चे ने उसी चिमनभाई पटेल के साथ गठबंधन सरकार बनाने में सफलता प्राप्त की, जिनके विरुद्ध भ्रष्टाचार और कु-शासन को लेकर यह जन आंदोलन शुरू किया गया था।

इलाहाबाद उच्च न्यायालय के फैसले और गुजरात विधानसभा के नतीजों ने विपक्षी आंदोलनों को फिर से जगा दिया। लेकिन जेपी और विपक्षी पार्टियों का गठबंधन, श्रीमती गांधी की सर्वोच्च न्यायालय में अपील पर फैसले और अगले आठ महीनों में होने वाले आम चुनावों के नतीजे के लिए इंतजार करने को तैयार नहीं था। उन्होंने इस अवसर का पूरा फायदा उठाने का निश्चय किया और श्रीमती गांधी पर 'भ्रष्ट तरीकों से हथियाए गए पद से चिपके रहने' का आरोप लगाते हुए उनसे त्यागपत्र की मांग की। इस मुद्दे पर दबाव डालने के लिए उन्होंने राष्ट्रव्यापी आंदोलन का आह्वान किया। 25 जून को दिल्ली में हुई एक रैली में उन्होंने यह घोषणा की कि श्रीमती गांधी को त्यागपत्र देने के लिए दबाव डालने के वास्ते 29 जून से एक सप्ताह का राष्ट्रव्यापी सविनय अवज्ञा आंदोलन और जुलूस आदि का आयोजन किया जाएगा। इस आंदोलन का अंत सैकड़ों-हजारों आंदोलनकारियों द्वारा प्रधानमंत्री निवास के घेराव में होना था। अपनी रैली में दिए गए भाषण में जेपी ने जनता से आग्रह किया कि वे सरकार के कामकाज का चलना असंभव बना दें तथा एक बार फिर सशस्त्र सेनाओं, पुलिस बल और सरकारी अधिकारियों से अपील की कि वे किसी भी सरकारी आदेश को न मानें और उन आदेशों को 'गैर-कानूनी और 'गैर-संवैधानिक' मानें।

Scanned with CamScanner

श्रीमती गांधी की तात्कालिक प्रतिक्रिया 26 जून को देश में आंतरिक आपातकाल की घोषणा के रूप में सामने आई।

जे.पी. आंदोलन

(आपातकाल कैसे आया और इसकी वैधानिकता क्या थी? व्यावहारिक रूप से इसका अर्थ क्या था और अंततः इसे क्यों उठा लिया गया? इसके क्या-क्या परिणाम हुए? ये सभी मुद्दे काफी आलोचनात्मक दृष्टि की मांग करते हैं।)

जे.पी. आंदोलन का सबसे प्रमुख औचित्य यह था कि वह भारतीय जीवन और राजनीति में भ्रष्टाचार का उन्मूलन करने के लिए खड़ा हुआ था, जिसका मुख्य स्रोत कथित रूप से श्रीमती गांधी थीं। यह आंदोलन, उनके निरंकुश व्यक्तित्व और राजनीति एवं प्रशासन चलाने के उनके तौर तरीके से उत्पन्न खतरे से लोकतंत्र को बचाना चाहता था। जेपी ने अकसर श्रीमती गांधी पर यह आरोप लगाया कि वह भी जनवादी संस्थाओं को समाप्त करने और अपनी सत्ता की भूख मिटाने के लिए सोवियत समर्पित तानाशाही स्थापित करने की कोशिश कर रही हैं। उन्होंने कहा कि श्रीमती गांधी का सत्ता में बने रहना और भारत में लोकतंत्र का जीवित रहना परस्पर विरोधी है।[2] बाद में श्रीमती गांधी के कई अन्य आलोचकों और विरोधियों ने इसी प्रकार के विचार व्यक्त किए।

इंदिरा गांधी ने आपातकाल लागू करने के अपने कदम को, देश के राजनीतिक हितों की रक्षा एवं मुख्यतया अन्य तीन आधारों पर उचित ठहराया। पहला, भारत की सुरक्षा, स्थायित्व, अखंडता और लोकतंत्र को जेपी आंदोलन के विखंडवादी चरित्र से खतरा था। जेपी के भाषणों का हवाला देते हुए उन्होंने विपक्षी दलों पर सशस्त्र सेनाओं और पुलिस को बगावत करने के लिए उकसाने का आरोप लगाया। दूसरा, गरीबों और सुविधाविहीन जनता के हितों में द्रुत आर्थिक विकास के कार्यक्रमों को लागू करने की आवश्यकता थी। तीसरा, उन्होंने भारत को कमजोर और अस्थिर बनाने के उद्देश्य से विदेशों से तोड़फोड़ और हस्तक्षेप की आशंका के प्रति आगाह किया।

दरअसल न तो जेपी और न ही इंदिरा गांधी ने संकट से निकलने का जनवादी तरीका चुना। जे.पी. को लोकसभा के लिए नए चुनावों की मांग करनी चाहिए थी और इंदिरा गांधी को उसे स्वीकार करना चाहिए था। वैसे भी चुनाव 1976 के आरंभ में होने ही वाले थे। ये चुनाव अक्टूबर-नवंबर 1975 में भी कराए जा सकते थे। इस तरह श्रीमती गांधी के त्यागपत्र की मांग और आपातकाल दोनों का ही एक व्यावहारिक विकल्प चुना जा सकता था। जेपी और श्रीमती गांधी दोनों के रवैए की आलोचनात्मक समीक्षा के लिए बाद में हुए राजनीतिक घटनाक्रमों की रोशनी में जाने की आवश्यकता है।

जे.पी. आंदोलन कई मायनों में गलतियों से भरा था, चाहे वह इसकी कार्रवाईयों और संघटकों का मामला हो या फिर इसके नेताओं के चरित्र और दर्शन का। जयप्रकाश नारायण अपनी ईमानदारी, पदलोलुपता से दूर रहने, निडर, स्वार्थहीन, त्याग और नागरिक अधिकारों

Scanned with CamScanner

के प्रति आजन्म प्रतिबद्धता और समतावादी समाज की स्थापना के प्रति समर्पण के लिए उचित रूप से सुविख्यात थे। परंतु विचाराधारात्मक रूप से वे बहुत ही अस्पष्ट थे। 1950 के दशक के आरंभ से ही वे संसदीय राजनीति और संसदीय जनवाद के आलोचक बन गए थे। कई वर्षों तक वे 'दलविहीन जनवाद' की अवधारणा को लोकप्रिय बनाने की कोशिश में जुटे रहे। 1974-75 के दौरान भी उन्होंने 'संपूर्ण क्रांति' की वकालत की। दोनों ही अवधारणाएं अस्पष्ट और अविकसित थीं। किसी भी समय में वे ऐसी राजनीतिक व्यवस्था की कोई रूपरेखा या व्याख्या प्रस्तुत नहीं कर पाए जिसमें कोई राजनीतिक पार्टी शामिल नहीं होगी या फिर किस तरह आम जनता की इच्छाओं की अभिव्यक्ति होगी या उन्हें लागू किया जाएगा। इसी प्रकार, संपूर्ण क्रांति का सामाजिक-आर्थिक और राजनीतिक सार, कार्यक्रम और नीतियां क्या होंगी, इसे कभी भी उचित तरीके से परिभाषित नहीं किया गया। परंतु इसके साथ ही साथ जेपी एक जनवादी व्यक्ति थे। कोई निरंकुश नेता नहीं। न ही उनके द्वारा 1974-75 में चलाया गया आंदोलन कोई फासीवाद या तानाशाही लाने का आंदोलन था। परंतु यह भी महत्वपूर्ण है कि यह आंदोलन फासिस्ट तत्वों के लिए जगह बनाने की क्षमता भी रखता था। जेपी द्वारा दलविहीन जनवाद और संपूर्ण क्रांति की चर्चा, संसदीय जनवाद की आलोचना तथा उनकी अस्पष्टता और धुंधलापन खतरनाक भी हो सकता था, क्योंकि इससे जनवादी संस्थाओं के प्रति निराशा, आक्रोश और कटुता को बढ़ावा मिलता था। यह निरंकुशतावाद और फासीवाद के पक्ष में राजनीतिक माहौल पैदा कर सकता था जैसा कि 1919 के बाद इटली और जर्मनी में तथा 1960 के दशक में पाकिस्तान और इंडोनेशिया में हुआ था।

जे.पी. का राजनीतिक और विचारधारात्मक धुंधलापन इस तथ्य से भी उजागर हो जाता है कि उन्होंने ऐसी राजनीतिक पार्टियों और समूहों से समर्थन लिया जिनके बीच कार्यक्रमों और नीतियों के मामले में कोई समानता नहीं थी और विचारधारात्मक रूप से वे परस्पर विरोधी थे। जेपी आंदोलन में सांप्रदायिक जनसंघ और जमात-ए-इस्लामी, नव फासीवादी आर.एस.एस., रूढ़िवादी और धर्मनिरपेक्ष कांग्रेस (ओ), समाजवादी और अतिवामपंथी नक्सलपंथी सभी शामिल थे। अपने रवैए से पूरी तरह नकारात्मक यह आंदोलन सिवाय इंदिरा गांधी को गद्दी से उतार फेंकने के लिए अपने कार्यक्रम का कोई वैकल्पिक कार्यक्रम अथवा नीतियों का निर्माण नहीं कर सका।

अपने बाद के चरण में यह आंदोलन आर एस एस और जनसंघ के संगठनों पर आश्रित था। क्योंकि इस आंदोलन के विभिन्न घटकों में से अकेले इन्हीं दो संगठनों के पास एक मजबूत और सुव्यवस्थित संगठन, प्रशिक्षित कार्यकर्ता तथा पूरे भारत में फैली शाखाएं थीं। यहां तक कि बिहार में भी आर एस एस का एक मोर्चा संगठन अखिल भारतीय विद्यार्थी परिषद (ए.बी.वी.पी.) ही जेपी का मुख्य राजनीतिक संगठन—छात्र युवा संघर्ष वाहिनी का मुख्य आधार बना। नतीजा यह हुआ कि यद्यपि जेपी ही इस आंदोलन के प्रमुख आंदोलनकर्ता बने रहे परंतु धीरे-धीरे आर एस एस-जनसंघ इस पर ज्यादा से ज्यादा हावी होता चला गया। फलस्वरूप आंदोलन के राजनीतिक चरित्र में भी भारी बदलाव आ गया। नीतियों अथवा

Scanned with CamScanner

राज्य सरकार में परिवर्तन के बजाए इंदिरा गांधी को पद से हटाना ही आंदोलन का मुख्य लक्ष्य बन गया। इसके अतिरिक्त मांगों और अपनाए गए अथवा योजनाबद्ध राजनीतिक तौर तरीकों में भी इसके अंदर गैर लोकतांत्रिक चरित्र की आशंकांए छुपी हुई थीं। इसका उद्देश्य किसी सरकारी नीति को रोकना अथवा उसमें परिवर्तन लाना नहीं था बल्कि पहले बिहार सरकार और उसके बाद भारत सरकार की जड़ें खोदना था। जनवादी तरीके से चुने गए विधायकों और सरकारों को हटाने के बाद फिर चुनाव के माध्यम से इन जगहों को भरने के बजाए गैर-संवैधानिक तरीके से मुख्यत: शहरी क्षेत्रों में सीमित आंदोलन को ये उस स्थान पर बिठाना चाहते थे। यह एक तरह से राजनीतिक व्यवस्था में भौतिक बदलाव के लिए एक प्रच्छन्न मांग थी।

जेपी आंदोलन द्वारा अपनाए और प्रचारित किए गए आंदोलनात्मक तौर तरीके भी गैर जनवादी एवं गैर संवैधानिक थे। शांतिपूर्ण जुलूसों, प्रदर्शनों और रैली से कहीं दूर हटते हुए पहले गुजरात और फिर बिहार में मुख्य रणनीति यह थी कि सरकार को त्यागपत्र देने के लिए मजबूर किया जाए और सरकारी कार्यालयों, विधानसभा और राज्यपाल का घेराव करते हुए विधानसभा को भंग करवाया जाए। सरकार को ठप करना तथा चुने गए विधायकों को व्यक्तिगत रूप से धमका कर और दबाव डालकर विधानसभाओं से त्यागपत्र दिलवाना ही इनकी मुख्य योजना थी। यही रणनीति जून-जुलाई 1975 में केंद्र में दुहराई जानी थी।

इससे भी कहीं ज्यादा गंभीर बात जेपी द्वारा सेना, पुलिस और नागरिक अधिकारियों को बगावत के लिए उकसाया जाना था। आंदोलन के दौरान कई बार उन्होंने इनसे यह अपील की कि वे इन आदेशों को मानने से इनकार कर दें जो 'अनुचित और उनके कर्तव्यों से परे' या 'गैर कानूनी और अनुचित' या 'गैर संवैधानिक, गैर कानूनी या उनके विवेक के विरुद्ध' जाते हों। आदेशों की गैर संवैधानिकता इत्यादि के विषय में निर्णय संबंधित व्यक्ति को स्वयं ही करना था। परंतु विभिन्न प्रकार के ये उपदेश सचमुच में बगावत के आह्वान के बजाए, संभवतया जेपी के अस्पष्ट चिंतन की अभिव्यक्ति ही ज्यादा मानी जा सकती है।

वस्तुतः
[illegible] जेपी आंदोलन का चरम बिंदु 25 जून 1975 को आया जब एक ऐसे राष्ट्रव्यापी सविनय अवज्ञा आंदोलन के लिए जनता का आह्वान किया गया जिसमें अंतत: प्रधानमंत्री निवास का घेराव कर जलियांवाला बाग नरसंहार को दोहराए जाने अथवा प्रधानमंत्री को त्यागपत्र देने के लिए मजबूर किया जाना था। यदि ऐसा कोई नरसंहार हो जाता तो श्रीमती गांधी वैसे भी कभी बच नहीं सकती थीं। विपक्ष की इस पूरी योजना का खुलासा मोरारजी देसाई ने उसी शाम एक साक्षात्कार में किया : 'हम उन्हें उलट फेंकना चाहते हैं, हम उन्हें त्यागपत्र देने के लिए मजबूर कर देना चाहते हैं।... हम हजारों की संख्या में उनके घर को घेर लेंगें ताकि वह न बाहर जा सकें और न ही उनसे कोई मिलने आ सके। हम वहां दिन रात धरना डालकर बैठ जाएंगे और रात-दिन उन्हें त्यागपत्र देने के लिए चिल्लाते रहेंगे।'[3] दूसरे शब्दों में विरोधियों की योजना में तख्ता पलट के सभी प्रमुख चिन्ह मौजूद थे।

जेपी आंदोलन द्वारा एक ऐसी परिस्थिति तैयार की जा रही थी जिसमें बिना किसी क्रांति

Scanned with CamScanner

के ही बगावत हो जाए। इसने अपनी जो रणनीति उस दौरान विकसित की थी वह एक क्रांति जैसी ही थी। परंतु यह एक ऐसी क्रांति थी जिसमें इसे नेतृत्व अथवा दिशा देने के लिए न कोई पार्टी थी न संगठन, न विचारधारा और न कोई कार्यक्रम। दरअसल यह एक ऐसी क्रांति होनी थी जिसे आदर्शविहीन छात्रवाहिनी कार्यकर्ताओं, कांग्रेस (ओ), बी.के.डी. और स्वतंत्र पार्टी के रूढ़िवादी कार्यकर्ताओं तथा आरएसएस-जनसंघ के सांप्रदायिक-नवफासीवादी कार्यकर्ताओं की एक खिचड़ी पर आश्रित होकर पूरा किया जाना था।

एक जन-आंदोलन द्वारा क्रांतिकारी शब्दाडंबर, कानून से परे एवं गैर-संवैधानिक और अकसर हिंसात्मक आंदोलन के तौर तरीकों को अपनाया जाना एक जनवादी व्यवस्था के संचालन के साथ मेल नहीं खाता है। परंतु इससे भी ज्यादा महत्वपूर्ण यह है कि जब ऐसे शब्दाडंबर और तौर-तरीके समाज के आर्थिक-सामाजिक व्यवस्था में मौलिक परिवर्तन के लिए लक्षित क्रांतिकारी योजना के अंग न हों, जब जनता बिना किसी क्रांतिकारी पार्टी अथवा सुसंगठित नेतृत्व की अगुआई के ही असंगठित और अराजकतापूर्ण तरीके से किसी आंदोलन में कूद पड़े, जब बिना किसी वैकल्पिक व्यवस्था में आस्था जगाए पुरानी राजनीतिक व्यवस्था में विश्वास को तोड़ दिया जाए तो इसके परिणामस्वरूप यही संभावना बनती है कि एक निरंकुश और अवसरवादी फासीवादी व्यवस्था स्थापित होगी या फिर राजनीतिक अव्यवस्था, अराजकता और राजनीतिक संस्थाओं का विखंडन होगा। ऐतिहासिक रूप से ऐसे आंदोलन क्रांति के प्रतीक नहीं बल्कि प्रति-क्रांति ही रहे हैं। जैसा कि यूरोप में फासीवाद और लैटिन अमरीका के निरंकुश तानाशाहियों के उदय को इतिहास इंगित करता है।

मुझे यहां एक चेतावनी जोड़ने दीजिए। निरंकुशता का खतरा जयप्रकाश नारायण की तरफ से नहीं था और वे किसी निरंकुशवादी सत्तापलट की योजना नहीं बना रहे थे और न ही उसे निर्देशित कर रहे थे। परंतु जैसा कि पहले दिखाया जा चुका है उनके इर्द-गिर्द ऐसे लोग थे जो ऐसी प्रवृत्ति रखते थे और धीरे-धीरे इस आंदोलन पर ज्यादा-से-ज्यादा नियंत्रण स्थापित करते जा रहे थे और जो उनके विचारधारात्मक धुंधलेपन और मूलतः कमजोर व्यक्तित्व का फायदा उठा रहे थे।

कुछ भी हो, उस समय विपक्ष के सामने उपलब्ध कुछ उचित जनवादी विकल्प इस प्रकार थे : (i) सर्वोच्च न्यायालय के फैसले का इंतजार करना तथा यदि फैसला इंदिरा गांधी के खिलाफ जाता तो उसे लागू करवाने के लिए मांग करना, (ii) 1976 के शुरू में होने वाले लोकसभा के आम चुनावों का इंतजार करना और इस बीच शांतिपूर्ण आंदोलन और प्रचार द्वारा जनता के बीच श्रीमती गांधी की स्थिति को कमजोर करना (iii) यह कि चूंकि इलाहाबाद उच्च न्यायालय के फैसले ने श्रीमती गांधी को दिए गए शासन के जनादेश को क्षीण कर दिया है, अतः तुरंत या कहिए अक्टूबर-नवंबर 1975 में ही ताजा चुनाव कराने की मांग करना।

दरअसल जो विपक्षी लोग श्रीमती गांधी को इसी धक्का-मुक्की में पराजित करना चाहते थे, वे इसके लिए अक्टूबर-नवंबर 1974 में ही राजी हो चुके थे जब जेपी ने अपने आंदोलन

Scanned with CamScanner

की नियति का फैसला, अगले आम चुनावों से भरने की श्रीमती गांधी की चुनौती को स्वीकार कर लिया था। परंतु राजनीति में एक साल क्या छह महीने भी लंबी अवधि होती है। एक जन आंदोलन उतने समय में और भी गति प्राप्त कर सकता है या फिर समाप्त हो सकता है। आगामी चुनावों में भी सफलता की कोई गारंटी नहीं थी क्योंकि खासतौर पर दक्षिण भारत और ग्रामीण गरीबों, महिलाओं और अल्पसंख्यकों में कांग्रेस का आधार अक्षुण्ण लगता था। यहां तक कि जून में हुए गुजरात चुनाव में भी कांग्रेस को बहुमत प्राप्त नहीं हो पाया था लेकिन जेपी और मोरारजी देसाई द्वारा चुनाव प्रचार का नेतृत्व किए जाने के बावजूद विपक्षी जनता गठबंधन को भी बहुमत प्राप्त नहीं हो सका था। इस मामले में इलाहाबाद उच्च न्यायालय का फैसला एक निर्णायक मोड़ साबित हुआ। जो श्रीमती गांधी के तत्काल निष्कासन की संभावनाओं को महसूस करते हुए जेपी, मोरारजी एवं अन्य तख्तापलट की विचारधारा के पक्ष में चले गए।

आपातकाल

इंदिरा गांधी द्वारा आपातकाल लागू करना भी गलत था। बाद में उन्होंने यह दावा किया कि गैर संवैधानिक चुनौती का सामना करने के लिए उनके पास और कोई चारा नहीं था। उन्होंने कहा कि उनके त्यागपत्र से उन शक्तियों को मजबूत होने का मौका मिलता जो जनतांत्रिक प्रक्रिया के लिए खतरा उत्पन्न कर रही थीं और देश की अव्यवस्था को अराजकता के कगार पर ढकेल रही थीं। हालांकि इस बात का भी कोई वैधानिक, राजनीतिक अथवा नैतिक कारण मौजूद नहीं था कि अपनी अपील की सुनवाई के दौरान क्यों उन्हें अपने पद से हट जाना चाहिए।

परंतु जैसा कि पहले संकेत किया जा चुका है असलियत में श्रीमती गांधी के पास भी अन्य जनवादी विकल्प मौजूद थे। वह यह घोषणा कर सकती थीं कि लोकसभा भंग कर अक्टूबर-नवंबर में ताजे चुनाव कराए जाएंगे। यदि जेपी तथा अन्य विपक्षी दल उनकी इस मांग को स्वीकार कर लेते तो इस राजनीतिक संकट से बाहर निकलने का जनतांत्रिक रास्ता मतदाताओं को अपील करने के माध्यम से खुल जाता। यदि विपक्ष यह नहीं मानता और श्रीमती गांधी से तत्काल त्यागपत्र की मांग पर अड़ा रहता और उसे हासिल करने के लिए अपने घोषित तौर तरीकों को जारी रखता तो उनकी गैर संवैधानिक चुनौती का सामना करने के लिए एकमात्र संभव और उपलब्ध उपाय के रूप में वह वैधानिक रूप से आंतरिक आपातकाल लागू कर सकती थीं। साथ ही साथ वह यह घोषणा भी कर सकती थीं कि जैसे ही विपक्ष उनके द्वारा त्यागपत्र की मांग वापस ले लेगा वैसे ही आपातकाल उठा लिया जाएगा। वह सर्वोच्च न्यायालय या संसद के फैसले को स्वीकार करने को सहमत होकर चुनावों की परीक्षा में भाग ले सकती थीं। यहां यह बताना रोचक होगा कि फ्रांस में जब जनरल डी. गॉल के सामने बिलकुल ऐसी ही स्थिति आई और मई 1968 में मजदूरों और छात्रों के उग्र विद्रोह का और भी अधिक बड़े पैमाने पर उन्हें सामना करना पड़ा था तो

Scanned with CamScanner

उन्होंने भी यही किया था। और स्वाभाविक रूप से प्रदर्शनकारी छात्रों और मजदूरों और उनके ज्यादातर नेताओं ने डी. गॉल द्वारा दी गई चुनाव की चुनौती को स्वीकार कर लिया। कुछ भी हो इतने लंबे समय (उन्नीस महीने) तक आपातकाल लगाने का कोई औचित्य नहीं था। एक बार जब कानून और व्यवस्था के ऊपर संभावित खतरा टल गया तो फिर इसका कोई मतलब नहीं था और न ही आपातकाल के दौरान उठाए गए क्रूर कदमों का।

यह एक राजनीतिक त्रासदी ही थी कि जे.पी. आंदोलन और इंदिरा गांधी, दोनों ने ही चुनाव के विकल्प को बंद कर दिया था जो एक प्रजांतत्र में राजनीतिक सत्ता की वैधता की वाहक और जनता की इच्छाओं की एकमात्र अभिव्यक्ति होती है। निश्चित ही इसका कारण राजनीतिक संघर्ष के उस तौर तरीके में कुछ हद तक निहित था जो 1974-75 के दौरान विकसित हुए थे। इसका एक दुखद परिणाम यह था कि इससे एक ऐसा राजनीतिक माहौल विकसित हुआ जिसमें बातचीत और दो परस्पर विरोधी शक्तियों के बीच समझौते की संभावना ही खत्म हो गई।

श्रीमती गांधी ने 26 जून की सुबह सभी साामन्य राजनीतिक प्रक्रियाओं को निलंबित करते हुए संविधान की धारा 352 के तहत आंतरिक आपातकाल लागू किए जाने की घोषणा की। परंतु उन्होंने यह वादा किया कि जैसे ही परिस्थितियां मौका देंगी, वैसे ही सामान्य हालात बहाल कर दिए जाएंगे। इस घोषणा ने संविधान के संघीय प्रावधानों को बर्खास्त कर दिया। सरकार ने प्रेस पर कड़ी सेंसरशिप लागू कर दी और सरकार के सभी विरोधों पर पाबंदी लगा दी। 26 जून को तड़के ही विपक्ष के सैकड़ों प्रमुख नेताओं को आंतरिक सुरक्षा प्रबंधन कानून (मीशा) के तहत गिरफ्तार कर लिया गया। गिरफ्तार किए गए लोगों में जयप्रकाश नारायण, मोरारजी देसाई, अटल बिहारी वाजपेयी और चंद्रशेखर जैसे कांग्रेसी विक्षुब्ध शामिल थे। कई शिक्षाशास्त्री, पत्रकार, ट्रेड यूनियन नेता तथा छात्र नेता भी जेल की सींखचों के अंदर बंद कर दिए गए। गिरफ्तार किए गए लोगों में से कइयों को धीरे-धीरे छोड़ दिया गया : खराब स्वास्थ्य के आधार पर 1975 में जेपी तथा अन्यों को एवं 1976 में चरण सिंह और वाजपेयी को भी छोड़ दिया गया। अनेक सांप्रदायिक एवं उग्र-अतिवामपंथी संगठनों, जैसे-आर एस एस, आनंद मार्ग, जमात-ए-इसलामी तथा माओवादी कम्युनिस्ट पार्टी (एम एल) पर प्रतिबंध लगा दिया गया। पूरे आपातकाल के दौरान गिरफ्तारियां चलती रहीं, हालांकि ज्यादातर गिरफ्तार लोगों को कुछ दिनों अथवा महीनों के बाद छोड़ दिया गया। कुल मिलाकर इन उन्नीस महीनों में एक लाख से अधिक लोगों को गिरफ्तार किया गया। गिरफ्तार किए गए लोगों में समाज विरोधी लोग, जैसे-तस्कर, जमाखोर, कालाबाजारी करने वालों एवं जाने माने गुंडे भी बड़ी संख्या में शामिल थे।

आपातकाल के दौरान संसद बिलकुल ही अप्रभावी बना दी गई थी। विपक्ष के कुछ बहादुर सांसदों को, जिन्हें गिरफ्तार नहीं किया गया था, उनके भाषणों को बेअसर बना दिया गया था क्योंकि उन्हें अखबारों में रिपोर्ट करने की इजाजत ही नहीं थी। राज्य सरकारों पर भी कड़ा नियंत्रण लगा दिया गया था। तमिलनाडु में डी एम के तथा गुजरात में जनता पार्टी की दोनों ही गैर कांग्रेसी सरकारों को जनवरी और मार्च 1976 में उनके पूरी तरह आज्ञाकारी

Scanned with CamScanner

होने के बावजूद बर्खास्त कर दिया गया। उत्तर प्रदेश और उड़ीसा के कांग्रेसी मुख्यमंत्रियों को पूरी तरह विश्वस्त नहीं होने के कारण बदल दिया गया। कांग्रेस पार्टी पर भी कठोर नियंत्रण लगा दिया गया। पार्टी के अंदर आंतरिक जनवाद को भी कमोवेश पूरी तरह कुचल दिया गया। 1976 के अंतिम हिस्से में संजय गांधी के नेतृत्व में यूथ कांग्रेस अपने मातृ संगठन से कहीं ज्यादा महत्वपूर्ण बन गई थी।

विज्ञप्तियों, कानूनों और संविधान संशोधनों की एक शृंखला द्वारा कार्यपालिका के क्रियाकलापों पर नियंत्रण रखने के लिए न्यायपालिका की शक्ति को कम कर दिया गया। नागरिक अधिकारों को नुकसान पहुंचाते हुए जुलाई 1975 में भारत सुरक्षा कानून और मीशा में भी संशोधन किया गया। नवंबर 1976 में संविधान के आधारभूत नागरिक अधिकारवादी ढांचे को 42वें संशोधन द्वारा बदलने की कोशिश की गई। संविधान संशोधनों में न्यायपालिका द्वारा पुनर्मूल्यांकन करने के अधिकार को समाप्त कर दिया गया, क्योंकि यह कहा गया कि न्यायपालिका गरीबों के लिए किए जाने वाले उपायों, जैसे-भूमि सुधार कानून आदि का मौलिक अधिकरों की सुरक्षा के नाम पर, विरोध करती है। यह तय कर दिया गया कि संविधान संशोधन करने के संसद के अधिकार पर कोई सीमा तय नहीं की जा सकती है। मौलिक अधिकारों को अप्रत्यक्ष रूप से दुर्बल बनाने के लिए उसे संविधान में सन्निहित राज्य नीति के निर्देशक सिद्धांतों का मातहत बना दिया गया।

अत: आपातकाल ने प्रधानमंत्री के हाथों में असीम राजकीय तथा पार्टी शक्ति संकेंद्रित कर दी जिसका इस्तेमाल श्रीमती गांधी अपने इर्द-गिर्द जुटे राजनीतिज्ञों और अधिकारियों की मदद से कर सकती थीं।

आपातकाल पर जनता की प्रतिक्रिया

जहां बुद्धिजीवियों के एक हिस्से ने आपातकाल के विरुद्ध बहुत कड़ी प्रतिक्रिया व्यक्त की, वहीं जनता के एक विशाल बहुमत की आरंभिक प्रतिक्रिया निरपेक्षता, मौन स्वीकृति, सहमति और यहां तक कि समर्थन की भी थी। 1976 के आरंभ में ही जाकर आपातकाल अलोकप्रिय होना शुरू हुआ। यह प्रतिक्रिया इतनी धीमी क्यों हुई? पहली बात तो यह कि आजादी के बाद से नजदीकी याददाश्त में लोगों को निरंकुश शासन का कोई अनुभव ही नहीं था। लोग न केवल भौंचक्के थे बल्कि उन्हें एक अज्ञात व्यक्तिगत भय भी था। इसके अतिरिक्त विपक्षी नेताओं की गिरफ्तारियों के अलावा दमनकारी कदम मुख्यतया समाज विरोधी तत्वों अथवा चरमपंथी सांप्रदायिक दक्षिणपंथियों या फिर अतिवाद वामपंथियों के खिलाफ निर्देशित थे जिन्हें वैसे भी आपातकाल से पहले बहुत थोड़ा जनसमर्थन प्राप्त था और जो वैसे भी जनवाद के विरोधी के रूप में जाने जाते थे। पहले कुछ दिनों में गिरफ्तार लोगों की संख्या पूरे देश में 10,000 से भी कम थी। कई गिरफ्तार लोगों को कम समय के अंदर ही रिहाकर दिया गया था। सबसे बड़ी बात यह थी कि जनता का बहुत बड़ा हिस्सा आपातकाल के अच्छी तरह प्रसारित कुछ सकारात्मक परिणामों से काफी खुश और

Scanned with CamScanner

प्रभावित थे। हालांकि निश्चय ही इनमें से ज्यादातर कदम बिना आपातकाल के भी उठाए जा सकते थे।

सार्वजनिक व्यवस्था और अनुशासन फिर से कायम हो जाने के साथ-साथ अनेक लोगों ने राहत महसूस की कि देश को अव्यवस्था और अराजकता से बचा लिया गया है। शहरों में अपराध कम हो गए थे तथा घेराव और अनियंत्रित एवं अकसर हिंसक हो जाने वाले प्रदर्शन समाप्त हो गए थे। माहौल में तनाव कम होने के स्पष्ट चिन्ह मौजूद थे। शैक्षणिक संस्थाओं में शांति और निस्तब्धता छा गई थी और शिक्षक एवं छात्र कक्षाओं में लौट चुके थे। पैनी नजर रखने वाले एक पत्रकार इंद्र मल्होत्रा ने बाद में लिखा कि : 'लगातार हड़तालों, विरोध प्रदर्शनों, धरना और पुलिस से झड़पों के बाद सामान्य और व्यवस्थित जीवन की वापसी का ज्यादातर लोगों ने स्वागत किया... कम से कम अपने आरंभिक महीनों में आपातकाल ने भारत में एक ऐसी शांति स्थापित की जो कई वर्षों से इसने नहीं देखा थी।'[4]

प्रशासन में भी आमतौर पर और तत्काल सुधार हुआ। सरकारी कर्मचारी समय पर दफ्तर आने लगे और जनता का अधिक ध्यान रखने लगे। तस्करों, जमाखोरों, कालाबाजारियों, विदेशी मुद्रा के अवैध व्यापारियों और कर की चोरी करने वालों के खिलाफ शीघ्रतापूर्वक, नाटकीय तरीके से और खूब प्रचारित कार्रवाईयां की गईं। इनमें से हजारों मीसा के तहत जेलों में बंद थे। अर्थव्यवस्था में भी भारी और नाटकीय सुधार हुआ। हालांकि इनमें से बहुत थोड़ा सुधार ही आपातकाल के कदमों के कारण हुआ। इसमें से कुछ सुधार तो उस वर्ष हुई बेहतरीन वर्षा और कुछ उन नीतियों के कारण हुए जो आपातकाल से बहुत पहले ही शुरू किए जा चुके थे। सबसे अधिक स्वागत योग्य था-कीमतों की स्थिति में नाटकीय सुधार। खाद्य पदार्थों सहित सभी आवश्यक वस्तुओं की कीमत में कमी आई और दुकानों में उनकी उपलब्धता बढ़ गई।

जनता की आशाएं फिर बढ़ीं और आपातकाल को अधिक स्वीकार्य बनाने के लिए 1 जुलाई को बहुउद्देशीय 20 सूत्री कार्यक्रमों की घोषणा श्रीमती गांधी द्वारा की गई। इसकी धार विशाल ग्रामीण जनता के सामाजिक-आर्थिक उत्थान की तरफ रखी गई थी। इस कार्यक्रम ने भूमिहीन मजदूरों, छोटे किसानों और ग्रामीण कारीगरों के मौजूदा कर्जों को रद्द करने का वादा किया। कृषि भूमि पर मौजूदा हदबंदी कानून को लागू करने और अधिक भूमि को भूमिहीनों के बीच बांटने, भूमिहीन मजदूरों और कमजोर तबकों के बीच घर बनाने के लिए जमीन मुहैया कराने, खेतिहर मजदूरों की न्यूनतम मजदूरी की रकम और अधिक बढ़ाने, हथकरघा उद्योगों को विशेष सहायता प्रदान करने, कीमतों को कम करने, कर की चोरी और तस्करी रोकने, उत्पादन बढ़ाने, आवश्यक वस्तुओं की आपूर्ति को सुव्यवस्थित करने, आयकर में छूट की सीमा को 8,000 रु. तक बढ़ाने तथा निवेश के तौर-तरीकों में और उदारता लाने का वायदा भी किया गया।

बीस सूत्री कार्यक्रम को लागू करने की गंभीर कोशिश भी की गई और कीमतों में कमी, आवश्यक वस्तुओं की उपलब्धता में वृद्धि और जमाखोरी, तस्करी एवं कर की चोरी रोकने के रूप में कुछ शीघ्र परिणाम भी प्राप्त हुए। परंतु बीस सूत्री कार्यक्रम की अंतरात्मा, ग्रामीण

Scanned with CamScanner

गरीबों के उत्थान से संबंधित इसका एजेंडा थी। उस संदर्भ में भी कुछ प्रगति हुई। भूमिहीनों और दलितों को तीस लाख से भी अधिक आवास-स्थल प्रदान किए गए। करीब 11 लाख एकड़ जमीन भूमिहीनों को बांटी गई, हालांकि यह कुछ अधिशेष भूमि का मात्र दस प्रतिशत ही था। बंधुआ मजदूरी को गैर कानूनी बना दिया गया परंतु व्यवहार में बहुत ही कम असर पड़ा था। विभिन्न राज्यों में भूमिहीन मजदूरों और छोटे किसानों से ऋण वसूली पर रोक लगाने के लिए कानून पारित किए गए और कुछ मामलों में तो ऋणों की रकम कम या बिलकुल रद्द कर दी गई। परंतु राष्ट्रीकृत बैंकों और ग्रामीण सहकारी संस्थाओं द्वारा उपलब्ध कराए गए वैकल्पिक ऋणों की मात्रा बहुत कम थी और सूदखोर महाजनों, जो अकसर बड़े जमींदार भी होते थे, के ऊपर निर्भरता वैसी ही बनी रही। खेतिहर मजदूरों की न्यूनतम मजदूरी बढ़ा दी गई थी परंतु उसे लागू करवाने में काफी ढिलाई बरती गई थी। हालांकि समूचे तौर पर देखा जाए तो बीस सूत्री कार्यक्रम का ग्रामीण इलाकों से जुड़ा हिस्सा बड़े भू-स्वामियों और धनी किसानों एवं असहानुभूतिपूर्ण अफसरशाही द्वारा खड़े किए गए अवरोधों के कारण ठंडा पड़ता चला गया। परिणामस्वरूप यद्यपि इस कार्यक्रम ने ग्रामीण गरीबों को कुछ राहत जरूर दी परंतु यह उनकी मौलिक परिस्थिति में बहुत ही कम सुधार ला पाया।

आपातकाल को जनता द्वारा स्वीकार कर लिए जाने का एक बहुत बड़ा कारण इसका संवैधानिक, कानून सम्मत और अल्पकालीन स्वरूप भी था। यह संविधान की धारा 352 के तहत घोषित किया गया था। इसे संसद द्वारा स्वीकृत किया गया और न्यायपालिका द्वारा वैधानिक ठहराया गया था। जनता के लिए यह लोकतंत्र के सामान्य नियमों और संस्थाओं का एक अल्पकालीन निलंबन था। इसे एक अंतरिम कदम के रूप में देखा जा रहा था। वे इसे लोकतंत्र के विकल्प अथवा निरंकुशतंत्र स्थापित करने के प्रयास के रूप में नहीं देख रहे थे। पूरे आपातकाल के दौरान श्रीमती गांधी ने इसे बार-बार दोहराया कि वह बहुदलीय लोकतांत्रिक व्यवस्था और मुक्त प्रेस के प्रति पूरी तरह समर्पित हैं और आपातकाल मात्र एक असामान्य परिस्थिति के लिए एक असामान्य इलाज है तथा जैसे ही परिस्थितियां सामान्य हो जाएंगी वैसे ही फिर से चुनाव कराए जाएंगे एवं लोकतांत्रिक परिस्थितियां फिर से बहाल कर दी जाएंगी। भारतीय जनता ने श्रीमती गांधी के शब्दों पर विश्वास किया।

आपातकाल की समाप्ति की ओर

लेकिन कुछ महीनों के अंदर ही जनता का आपातकाल से मोहभंग होने लगा। 1976 के उत्तरार्ध में जन असंतोष अपने चरम शिखर पर पहुंचने लगा था। इसके कई कारण थे।

जनता को मिली सहूलियतें ज्यादा समय तक नहीं टिक पाईं। आपातकाल के पहले वर्ष में जो आर्थिक विकास हुआ वह बना नहीं रह पाया। कृषि उत्पादन गिरने लगा और 1976 के अंत तक कीमतें 10 प्रतिशत तक बढ़ीं। भ्रष्ट लोग, कालाबाजारिए और तस्कर आपातकाल के आरंभिक झटकों के खत्म होते ही तुरंत फिर से सक्रिय हो चुके थे। गरीब लोगों का

Scanned with CamScanner

अपने कल्याणकारी कार्यों की धीमी प्रगति की वजह से मोहभंग हो चुका था और मजदूर अपनी मजदूरी, बोनस एवं महंगाई भत्ते पर लगी रोक तथा अपने हड़ताल करने के अधिकार पर पाबंदी के कारण नाखुश थे। सरकारी कर्मचारी और शिक्षक इस बात से असंतुष्ट थे कि उन्हें अपने कार्यालयों में अनुशासित किया जा रहा था और कई मामलों में नसबंदी का कोटा पूरा करने के लिए दबाव डाला जा रहा था।

दरअसल किए गए दावों को पूरा करने की दिशा में मौजूदा आधार पर कोई प्रगति संभव ही नहीं थी, क्योंकि श्रीमती गांधी कांग्रेस सामाजिक परिवर्तन के किसी नवीन माध्यम अथवा जनता की लामबंदी के लिए नई संस्थाओं को पैदा करने में असफल रहीं। बीस सूत्री कार्यक्रमों तथा विकास संबंधी कार्यक्रमों को कार्यान्वित करने का जिम्मा उसी पुरानी भ्रष्ट एवं असक्षम अफसरशाही तथा चालबाज और बदनाम नेताओं को सौंप दिया गया था। जहां तक आम जनता का सवाल था, मामला पहले से भी बदतर होने लगा। उनके पास विरोध व्यक्त करने तथा अपनी शिकायतों को आवाज देने और समाधान के लिए कोई और जरिया अथवा तंत्र ही नहीं बचा था। सिर्फ बुद्धिजीवी और राजनीतिक कार्यकर्ता ही नहीं, यहां तक कि आम जनता भी भय और असुरक्षा के माहौल में जी रही थी।

पुलिस और अफसरशाही की ताकत बहुत बढ़ गई थी और उन पर प्रेस, अदालत, विधायकों, सांसदों, राजनीतिक दलों और जन आंदोलनों का दबाव और आलोचना का खतरा ही नहीं रह गया था। दोनों अपने अधिकारों का सामान्य रूप से दुरुपयोग करने लगे। इससे सभी प्रभावित हुए परंतु सबसे अधिक असर गरीबों पर पड़ा। यह उत्तरी भारत के विषय में कहीं ज्यादा सच था। साथ ही साथ प्रेस के ऊपर सेंसरशिप होने के कारण सरकार पूरी तरह अनभिज्ञ हो गई थी कि देश में क्या कुछ हो रहा था। चूंकि लोग यह जानते थे कि प्रेस अथवा रेडियो में जो कुछ भी आ रहा था वह अत्यधिक सेंसर किया हुआ होता था, इसलिए वे उस पर विश्वास नहीं करते थे। अब वे अफवाहों पर ज्यादा से ज्यादा विश्वास करने लग गए थे और सरकार की कार्रवाइयों एवं उसकी मंशाओं के विषय में बदतर से बदतर चीजों को ही स्वीकार करने लगे थे।

आम लोगों को छोटे अधिकारियों द्वारा भ्रष्टाचार और परेशान किए जाने की अपनी रोजमर्रा की जिंदगी पर नागरिक अधिकारों के अभाव का असर महसूस होना शुरू हुआ। आपातकाल उठाने में जो देरी की जा रही थी उससे यह डर पैदा होने लगा कि शासन का यह निरंकुश तेज कहीं स्थायी न बन जाए या कहीं लंबे समय तक न टिक जाए। खासकर इसलिए कि श्रीमती गांधी ने संसद द्वारा चुनावों को नवंबर 1976 में एक साल की अवधि के लिए और टलवा दिया था। बुद्धिजीवियों-शिक्षक, पत्रकार, पेशेवर और छोटे शहरों के वकील-और खासकर मध्य वर्ग ने सितंबर 1976 में पारित संविधान के 42वें संशोधन को, संविधान के मौलिक ढांचे में बदलाव के माध्यम से लोकतंत्र को समाप्त करने की कोशिश के रूप में देखा। जो आपातकाल पहले स्वीकार्य था वही अब अपनी वैधता खोने लगा।

परंतु आपातकाल की अलोकप्रियता में वृद्धि का एक बहुत बड़ा कारण संविधान से परे एक शक्ति केंद्र का विकास था। श्रीमती गांधी के छोटे बेटे संजय गांधी के इर्द-गिर्द इस

Scanned with CamScanner

शक्ति केंद्र का विकास हुआ था जो कांग्रेस या सरकार में किसी भी पद पर आसीन नहीं थे, अप्रैल 1976 तक संजय गांधी एक समानांतर सत्ता के रूप में उभर चुके थे और सरकार एवं प्रशासन के क्रियाकलापों में अपनी मर्जी के अनुसार हस्तक्षेप करते थे। केंद्रीय मंत्रिगण, कांग्रेस नेता, मुख्यमंत्री और वरिष्ठ नागरिक अधिकारी उनका दरबार लगाते और हुक्म बजाते थे। कांग्रेस के अंदर वे उस युवा कांग्रेस के नेता थे जो अपनी मातृ पार्टी से राजनीतिक वजन में शीघ्र ही मुकाबला करने लगी।

जुलाई 1976 में संजय ने अपना चार सूत्री कार्यक्रम रखा, जो शीघ्र ही अधिकारिक बीस सूत्री कार्यक्रम से कहीं ज्यादा महत्वपूर्ण बन गया। ये चार सूत्र थे : विवाह के समय दहेज न लें, परिवार नियोजन अपनाएं और परिवार को दो बच्चों तक सीमित रखें, वृक्ष लगाएं और साक्षरता बढ़ाएं। संजय गांधी झुग्गी झोपड़ियों और सड़कों, बाजारों, पार्कों, एवं ऐतिहासिक भवनों पर अवैध रूप से बने मकानों और अन्य ढांचों को हटा कर शहरों का सौंदर्यीकरण करने के लिए भी कटिबद्ध थे।

संजय गांधी के दबाव में आकर सरकार ने परिवार नियोजन को और मजबूती से बढ़ावा देने का फैसला किया जो कई बार बहुत ही मनमाने, अवैध और निरंकुश तरीके से किया गया। समझाने बुझाने और प्रलोभन देने की जगह जोर-जबर्दस्ती और दबाव को धीरे-धीरे अधिक महत्व दिया जाने लगा। बाद में तो अनिवार्य नसबंदी लागू किया जाने लगा। सरकारी कर्मचारियों, स्कूल शिक्षकों और स्वास्थ्य कर्मचारियों को मनमाने तौर पर कुछ लोगों का निश्चित कोटा आवंटित कर दिया गया जिन्हें उनको नसबंदी कराने के लिए 'प्रेरित' करना था। इस कोटा को पूरा करने के लिए पुलिस और प्रशासन ने भी अपनी ताकत लगा दी। इससे सबसे ज्यादा प्रभावित ग्रामीण और शहरी गरीब लोग हो रहे थे जो भागने, छिपने और दंगा करने आदि सभी उपलब्ध रोजमर्रा के तरीकों से अपना विरोध व्यक्त करते थे। ऊपर से प्रेस सेंसरशिप के कारण जबर्दस्ती नसबंदी करने और लोगों द्वारा हिंसक प्रतिरोध करने की सही या गलत खबर व्यापक पैमाने पर तेजी से फैल नहीं पाती थी।

झुग्गी-झोंपड़ी उजाड़ने और अवैध ढांचों को गिराने का काम भी परिवार नियोजन की तरह ही चलाया जा रहा था परंतु उसमें और भी ज्यादा क्रूरता और लापरवाही बरती गई थी। हालांकि यह दिल्ली और कुछ अन्य महानगरों को ही प्रभावित कर पाया था।

इस प्रकार दमन और भय, भ्रष्टाचार तथा सत्ता के दुरुपयोग के पहले से ही चले आ रहे माहौल को संजय गांधी के निर्देशन में चलाए जा रहे अत्याचारों ने और भी बदतर बना दिया।

1977 के अप्रत्याशित चुनाव

18 जनवरी 1977 को श्रीमती गांधी ने अचानक घोषणा की कि लोकसभा के चुनाव मार्च में कराए जाएंगे। साथ ही साथ उन्होंने राजनीतिक बंदियों को भी रिहा कर दिया, प्रेस सेंसरशिप एवं सार्वजनिक सभा आदि करने जैसी राजनीतिक गतिविधियों पर से प्रतिबंध उठा

Scanned with CamScanner

लिया। राजनीतिक दलों को भी खुलकर अभियान चलाने की इजाजत दे दी गई।

चुनाव 16 मार्च को स्वतंत्र और निष्पक्ष माहौल में संपन्न हुए और जब चुनाव परिणाम सामने आए तो यह स्पष्ट हो गया कि कांग्रेस पूरी तरह पराजित हो चुकी है। श्रीमती गांधी और संजय गांधी दोनों ही चुनाव हार गए। श्रीमती गांधी ने एक वक्तव्य जारी कर जनता के फैसले को 'उचित विनम्रता के साथ स्वीकार किया।

श्रीमती गांधी ने चुनावों की घोषणा और फिर स्वतंत्र और निष्पक्ष मतदान क्यों करवाया? आखिरकार अभी दो महीने पहले ही तो उन्होंने नवंबर 1976 में चुनावों को संसद द्वारा एक साल के लिए टलवा दिया था। इस सवाल का अभी तक कोई संतोषजनक उत्तर नहीं मिल पाया है, हालांकि इस विषय पर काफी अटकलें लगाई गई हैं। तीन व्यापक व्याख्याएं प्रस्तुत की गई हैं।

पहला, श्रीमती गांधी के पक्षधर विचारों के अनुसार यह निर्णय उदारवादी जनवाद और लोकतांत्रिक मूल्यों के प्रति इंदिरा गांधी की अंतर्निहित प्रतिबद्धता की एक अभिव्यक्ति थी। उनके जीवनीकार मैरी सी. कारास ने यह तर्क दिया है कि 'अपनी पूरी जिंदगी उनकी आत्म छवि एक जनवादी होने की थी, सचमुच उनका आत्मसम्मान इस आत्म छवि से बहुत हद तक उत्पन्न होता था... वह दुनिया को और सर्वोपरि स्वयं को साबित करने को मजबूर थीं कि वह एक जनवादी व्यक्ति थीं और हैं।'[5] कुछ अन्य लेखकों की राय में श्रीमती गांधी एक बार जब आपातकाल की ज्यादतियों से अवगत हो गईं और यह महसूस कर लिया कि मामला उनके नियंत्रण से बाहर जा रहा है तो उन्होंने चुनाव कराकर इस फंदे से बाहर निकलने का फैसला कर लिया, चाहे उनका अर्थ सत्ता खोना ही क्यों न हो।

श्रीमती गांधी के प्रति अमित्रतापूर्ण विचार रखने वालों के अनुसार उन्होंने जनता के मिजाज को पढ़ने में पूरी तरह गलती की थी और चाटुकारों एवं गुप्तचर संस्थाओं द्वारा बिलकुल गलत ढंग से सूचना दिए जाने के कारण वह यह मान बैठी थीं कि वह चुनाव जीत जाएंगी। जनता के विचारों से अलग-थलग कट जाने के कारण वह इस बात से बिलकुल बेखबर थीं कि उनका शासन कितना अलोकप्रिय हो चुका है। चुनाव जीतकर वह आपातकाल को सही ठहराना चाहती थीं और अपने उत्तराधिकारी के रूप में संजय गांधी का रास्ता साफ करना चाहती थीं।

तीसरा विचार यह है कि वह यह महसूस करती थीं कि आपातकाल की नीतियों को चुनाव द्वारा वैधता प्रदान करवाना जरूरी है। शुरू में भी आपातकाल लागू करने के काम को भी संवैधानिक प्रावधानों द्वारा वैधता प्रदान की गई थी। परंतु वह भारतीय जनता की गहरी जड़ें जमाई परंपराओं की दृष्टि में काफी नहीं थी। इसके अलावा जनता में बेचैनी और यहां तक कि असंतोष के भी साफ चिह्न मौजूद थे। उन्होंने यह निश्चय ही महसूस किया होगा कि आपातकालीन सत्ता अपनी साख तेजी से खोती जा रही है और काफी कमजोर हो चुकी है या तो आपातकाल के निरंकुश तत्व को और भी गहरा करना होता जिसका परिणाम बढ़ी हुई निदर्यता और विरोधी स्वरों को दबाने के लिए और भी अधिक दमन होता या फिर जनवादी व्यवस्था में फिर से वापस आकर राजनीतिक सत्ता एवं अधिक वैधता प्राप्त

Scanned with CamScanner

करना-ये ही दो रास्ते बचे थे। पहला विकल्प भारत जैसे बड़े और विभिन्नताओं वाले देश तथा यहां की लोकतांत्रिक परंपराओं को देखते हुए असंभव था। लोग दमन के लिए उस स्तर को कदापि स्वीकार नहीं कर सकते थे जिसकी इसमें जरूरत थी।

1975-77 के दौरान कई भारतीयों और विदेशों में भारत के मित्रों को भारत की लोकतांत्रिक प्रणाली के भविष्य को लेकर शंका हो रही थी, हालांकि उन्हें यह आशा थी कि देश इस राजनीतिक संकट से उबर जाएगा। कम सहानुभूतिपूर्ण लोग कहते थे कि भारत में लोकतंत्र को 'स्थायी रूप से ग्रहण लग गया है' और भारत अंततः उन उत्तर-उपनिवेशवादी समाजों में शामिल हो गया है जहां निरंकुश राज्य ही है। कई अन्य लोग यह कहते थे कि आपातकाल ने जो मौलिक परिवर्तन लाए हैं और नवीन प्रकार की शासन व्यवस्था की जो अनिवार्य विशेषताएं हैं वह आपातकाल के समाप्त होने और संसदीय प्रणाली पुनर्स्थापित करने के बाद भी जारी रहेंगी। कुछ टिप्पणीकारों ने और आगे जाते हुए यह तर्क दिया कि निरंकुशतावाद की तरफ खिसकाव 1950 से ही चल रहा था और यह एक दरिद्र एवं अशिक्षित समाज में अंतर्निहित था। कुछ लोग यह मान रहे थे कि 1950 में स्थापित लोकतांत्रिक संवैधानिक व्यवस्था, भारत की प्रतिभा और इसकी जनता की आवश्यकताओं के लिए उपयुक्त नहीं थी। कुछ और लोग यह कह रहे थे कि आर्थिक विकास और लोकतंत्र का साथ मिल कर चलना संभव ही नहीं था। कई उग्रपंथी लोग यह कह रहे थे कि वैसे भी उदारवादी जनवाद यहां एक मुखौटा ही था जिसके अंदर वर्गीय प्रभुत्व की क्रूर सच्चाई और जनता के संघर्षों का दमन छुपा हुआ था। इसलिए आपातकाल ने मुखौटा उतार फेंका है, इसका अर्थ कोई मौलिक राजनीतिक परिवर्तन नहीं था, सिवाय इसके कि सामाजिक और राजनीतिक सच्चाई अब सबके सामने उजागर हो गई है।

निश्चय ही भारत और विदेशों में कई ऐसे लोग थे जिन्हें इसमें कोई संदेह नहीं था कि भारतीय जनता और इसके राजनीतिक नेतृत्व का, लोकतंत्र में आधारभूत प्रतिबद्धता से आपातकाल एक अल्पकालीन विलगाव है और देर सवेर इस देश में लोकतंत्र पुनर्स्थापित हो कर रहेगा।

भारत की लोकतांत्रिक व्यवस्था न केवल जेपी आंदोलन और आपातकाल को बर्दाश्त कर गई बल्कि और मजबूत होकर निकली। 1977 के बाद से देश को आथिक रूप से विकसित करने तथा भष्टाचार मिटाने के लिए तानाशाही की आवश्यकता की बातें ही होनी बंद हो गईं। इस विचार को रखने वाले लोग लघु अल्पमत में हो गए और वह भी खासकर मध्यम वर्गों में। कई वर्षों से किसी प्रमुख बुद्धिजीवी या राजनीतिक नेताओं ने इसकी वकालत नहीं की है।

इस अर्थ में आपातकाल का उठाया जाना और उसके बाद हुए स्वतंत्र चुनाव आजादी के बाद के भारतीय इतिहास का निर्णायक क्षण रहा है। इसने यह दिखा दिया कि भारतीय जनता में लोकतांत्रिक मूल्यों के लिए कितना लगाव छुपा हुआ है जो भारतीय स्वतंत्रता संघर्ष के प्रभाव और स्वतंत्र चुनावों के साथ-साथ जनवादी क्रियाकलापों में भाग लेने के अनुभव का

Scanned with CamScanner

परिणाम था। जैसा कि तारिक अली ने इशारा किया है, मार्च 1977 के चुनावों में 'शहरी और ग्रामीण गरीबों ने बहुत ठोस और स्पष्ट तरीके से यह दिखा दिया कि आधारभूत नागरिक अधिकारों का प्रश्न मात्र शहरी मध्यवर्गों की ही चिंता नहीं है।'[6] चुनाव अभियानों का दौरा करते हुए इंद्र मल्होत्रा ने रिपोर्ट की कि किस 'सचमुच विलक्षण' तरीके से 'सुदूर देहातों के ग्रामीण श्रोता नागरिक अधिकारों, मौलिक अधिकारों और न्यायपालिका की स्वतंत्रता से संबंधित जटिल तर्कों पर प्रतिक्रिया करते थे।'[7]

जेपी आंदोलन और आपातकालीन शासन व्यवस्था का चरित्र चाहे जो भी रहा हो, इसमें कोई संदेह नहीं कि श्रीमती गांधी द्वारा सचमुच में स्वतंत्र चुनाव करने का निर्णय, उनकी हार और उसके बाद विपक्ष की जीत भारतीय लोकतंत्र की असाधारण उपलब्धि है। 1975-77 के वर्ष 'लोकतंत्र की परीक्षा' के वर्ष के रूप में वर्णित किए गए हैं, इसमें कोई शक नहीं कि इस परीक्षा में भारतीय जनता यदि पूरे अंकों से नहीं भी तो श्रेष्ठ अंकों से पास हुई।

Scanned with CamScanner